



21वीं सदी के आदिवासी हिन्दी उपन्यास और सामाजिक न्याय

डॉ. महात्मा पाण्डेय

सहायक आचार्य एवं शोध निर्देशक

हिन्दी विभाग, साठेय महाविद्यालय

विले पार्ले (पूर्व), मुंबई-४०००५७

सारांश:

आदिवासी शब्द से तात्पर्य आदिवासी, जंगली, आदिम वनवासी, इत्यादि से माना जाता है। शब्दकोशों में आदिवासी शब्द आदिकाल से निवास करने वाले व्यक्तियों के संबंध में प्रयुक्त होता है। आदिवासी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है। इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' शब्द उन समुदायों के आदि युग तक के इतिहास का द्योतक है, जो एक ही परंपरा मात्र में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी एक विशेष प्रकार की भाषा है, और साथ ही धर्म, प्रथाएँ और परंपराएँ भी हैं। दूसरी तरफ सामान्यजन की भी आदिवासियों के प्रति यह अवधारणा बनी हुई है कि वे शिकारी होते हैं, नंगे बदन घूमते हैं, कर्म से हीन होते हैं, उनके सिर पर सींग होते हैं, मनुष्यों का भक्षण करने वाले होते हैं, उनके कोई आचार-विचार नहीं होते हैं। उनके साथ न तो खाना खाया जा सकता है, और न उनके साथ बातचीत ही की जा सकती है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री जगन्नाथ पाधी का यह विचार है कि अवधारणा का अपने आप में कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं होता, उसका अर्थ न केवल उन्हीं सिद्धांतों से निकलता है, जिसका कि वे हिस्सा हैं, अपितु उनका आकार अधिकतर समकालीन सत्ता संरचना, और अकादमिक सदस्यों व कार्यकर्ताओं के बीच हुई बहसों से भी बनता है। इस प्रकार आदिवासियों की अवधारणा भी २१वीं सदी के आदिवासी उपन्यासों के परिवेश और उसके सामाजिक न्याय पर निर्भर करती है, क्योंकि समकालीन परिवेश ही आदिवासियों की सोच और उनकी समझ को विकसित करती है। इस परिवेश में आलोचकों के परस्पर होने वाले तर्क-कुतर्क और बहसों ने आदिवासी अवधारणा को और भी ज्यादा पुष्ट किया है। जिसका परिणाम ही हमारे सामने आदिवासी विमर्श के रूप में आया है।

Copyright © 2023 The Author(s): This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY-NC 4.0) which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium for non-commercial use provided the original author and source are credited.



आदिवासी शब्द अपने आप में भ्रामक भी है। आरंभ में इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के शब्द 'प्रिमिटिव' (आदिम) के अर्थ में हुआ था, वे कबीले जो सभ्यता के सबसे निचले पायदान पर रह रहे थे, जिसकी संस्कृति का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। वहाँ सभ्यता का अर्थ जीवन जीने के ढंग से भी था, और संस्कृति का अर्थ जातीय मूल्यबोध से था। विकास का अर्थ वैश्विक जीवन दृष्टि यानी तमाम सभ्यताओं और संस्कृतियों से तालमेल बैठाने की क्षमता से था। “आदिवासी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है। इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' उन समुदायों के आदिम युग तक के इतिहास का द्योतक है।”¹

भारत साँस्कृतिक विविधताओं वाला देश है, यहाँ पर विभिन्न संस्कृतियाँ निवास करती हैं, जिनमें आदिवासियों का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी हमारी प्राचीन संस्कृति के परिचायक भी हैं, जो समाज से अलग रहने के कारण पिछड़ गए हैं। आज का आदिवासी समाज संकट के कठिन दौर से गुजर रहा है। जल, जंगल और जमीन की समस्या, शिक्षा, स्वास्थ्य और स्त्रियों से जुड़ी समस्याएँ दिनों-दिन गंभीर होती जा रही है।

आदिवासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है यथा-आदि और वासी। आदि का अर्थ 'मूल' और वासी का अर्थ 'निवासी' है। अतः आदिवासी से तात्पर्य धरती के मूल निवासी से है, जो घने जंगलों ऊँचे पर्वतों और दुर्गम घाटियों में निवास करते हैं। आदिवासी उन्हें कहते हैं जो सभ्य जगत से दूर पर्वतों और जंगलों में दुर्गम स्थानों पर निवास करते हैं, समान जनजातीय बोली का प्रयोग करते हैं, तथा अधिकांशतया मांस भक्षी तथा

अर्द्धनग्न अवस्था में रहते हैं। आदिवासी का शाब्दिक अर्थ है आदिकाल से देश में रहने वाली जाति। भारत में आदिवासियों को अनेक नामों से पुकारा जाता है यथा- ऐबोरिजनल, इंडीजिनस, देशज, मूल निवासी, जनजाति, वनवासी, जंगली, गिरिजन, बर्बर आदि।

आदिवासी रचनाकार माया बोरसे के शब्दों में-“आदिवासी समाज ऐसा समाज है, जिसके नाम में ही उसकी पहचान छिपी हुई है। आदिवासी शब्द के लिए 'मूलनिवासी' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है अर्थात् आदिवासी समाज इस भूमि का मूल निवासी है और वही इस भूमि का उत्तराधिकारी भी है।”² इम्पीरीयल गजेटियर के अनुसार- “एक आदिम जाति परिवारों का एक समूह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य क्षेत्र में या तो वास्तव में रहते हैं या अपने को उसी क्षेत्र से संबंधित मानते हैं तथा ये समूह अंतर्विवाही होते हैं।”³

डॉ. मजूमदार ने आदिवासियों के बारे में कहा है कि “आदिवासी जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक समूह है, जो सामान्य नाम धारण किए हुए है। इसके सभी सदस्य एक ही भूमि पर निवास करते हैं, और एक भाषा-भाषी, विवाह की प्रथाओं तथा कारोबार संबंधी एक ही नियम का पालन करते हैं। साधारणतः आदिवासी जनजाति अंतर्विवाह सिद्धांत का समर्थन करती है और उसके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अंतर्गत विवाह करते हैं। कई गोत्र मिलकर आदिवासी जनजाति की रचना करते हैं। प्रत्येक गोत्र के सदस्यों का परस्पर रक्त संबंध जुड़ा होता है। इनमें या तो अनेक लघु वर्ग एक वृहत वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं, अन्यथा उनका वंश परंपरागत सरदार होता है। इस तरह आदिवासी जनजाति



को एक राजनीतिक संघ भी माना जाता है।”⁴

डॉ.रमणिका गुप्ता के अनुसार- “बिना जंगल, जमीन, अपनी भाषा, जीवन शैली, मूल्यों के बिना आदिवासी, आदिवासी नहीं रह सकता। आदिवासी इस देश का मूल निवासी है।”⁵

डॉ. विनायक तुकाराम के शब्दों में आदिवासी शब्द की परिभाषा कुछ इस तरह से दी गई है-“एक विशेष पर्यावरण में रहने वाला, एक सी बोली बोलने वाला, समान जीवन शैली से सजा, एक से देवी-देवताओं को मानने वाला, समान साँस्कृतिक जीवनयापन करने वाला परन्तु अक्षर ज्ञान रहित मानव समूह यानी आदिवासी हैं।”⁶

इस प्रकार इन तमाम विद्वानों के विचारों में काफी मतभेद भी पाया जाता है। बावजूद इसके भारत के अधिकाँश लोग इन्हें अनुसूचित जनजाति के नाम से ही जानते हैं। सामान्य रूप से आदिवासी उसे कहते हैं जो जंगलों में ही अपना गुजर बसर करते हैं। समान सामाजिक-साँस्कृतिक जीवन जीने की कोशिश करते हैं तथा जल, जंगल, जमीन से जुड़े होते हैं।

‘न्याय’ शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द ‘जस्टीशिया’ से हुई है, जो अंग्रेजी शब्द जस्टिस का हिन्दी रूपांतर है। जिसका शाब्दिक अर्थ है जोड़ना। इस प्रकार न्याय के अर्थ के अंतर्गत विविध आदर्शों और मूल्यों का समायोजन या समन्वय किया जाता है। व्यावहारिक सन्दर्भ में इसका संबंध राज्य के कानून की धारणा से भी है, जिसके परिणामस्वरूप कानून या न्याय जुड़वाँ धारणाएँ बन जाती है, अर्थात् न्याय का संबंध कानून व्यवस्था तथा सजा देने वाले नियमों की व्याख्या से भी संदर्भित होता है। सामान्य जीवन में न्याय से तात्पर्य होता है, निष्पक्षता, उचित या जो नैतिक रूप में उचित हो। निःसंदेह न्याय एक मूल्यपरक अवधारणा है, जो नैतिक रूप से अच्छा

है, वही न्यायपूर्ण है, और जो अन्यायपूर्ण है, उसकी इस रूप में भर्त्सना की जाती है कि वह अनैतिक है।

वैसे तो न्याय की अवधारणा सार्वभौमिक भी नहीं है। यह बहुत कुछ संस्कृति सापेक्ष भी है। भारत के भील या नागा जनजाति या समाज में जो भी न्याय संगत समझा जाता है, वह भारत के हिन्दू समाज या अन्य भिन्न-भिन्न समाजों में न्याय के मापदंड एक जैसे नहीं है, और एक जैसे हो भी नहीं सकते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अलग-अलग समाजों की साँस्कृतिक संरचना अलग-अलग है। भिन्न-भिन्न समाजों के मूल्यों तथा आदर्शों में मौलिक अंतर होता है। इसी प्रकार “पूँजीवादी समाज में जो न्यायपूर्ण है वह साम्यवादी समाज में न्यायपूर्ण नहीं हो सकता। इसका कारण है कि दोनों प्रकार के समाजों की मूल्य और आदर्शों की संरचना में मौलिक अंतर पाया जाता है।”⁷

प्राचीन समय में न्याय के निर्धारण का एक मात्र आधार ईश्वर ही था। ईश्वर या किसी पैगंबर द्वारा जो कुछ भी कहा गया वह न्याय था। विवादस्पद प्रकरणों में संत, पीर, पादरी, मुल्ला, मौलवी, पुजारी, आदि का मत ही निर्णायक माना जाता था, क्योंकि इन्हें ईश्वरीय शक्ति से विभूषित माना जाता था। “ईश्वरीय शक्ति के सिद्धांत के आधार या नाम पर समाज के पुरोहित वर्ग का वर्चस्व था। किन्तु यह व्यवस्था लंबे समय तक नहीं चल पाई। कालान्तर में न्याय का आधार ईश्वरीय संसर्ग के स्थान पर शक्ति हो गई। शक्ति संपन्न होने के कारण राजा लौकिक जीवन में न्याय का प्रतीक बन गया।”⁸

सामाजिक न्याय की अवधारणा का जो विकास हुआ, उससे समाज के नियम एवं विधान के निर्माण, उनकी व्याख्या तथा इन्हें लागू करने से संबंधित अधिकार के क्षेत्रों का विस्तार



हुआ। अब न्यायिक अधिकार पुरोहित एवं सामंत वर्ग की बपौती नहीं रह गये। न्याय का सिद्धांत प्लेटो के चिंतन का अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग है। जैसा कि बर्कर भी कहते हैं कि “न्याय प्लेटो के विचारों का मूल आधार है।”⁹

प्लेटो की न्याय संबंधी परिभाषा यह है कि “प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध हो। व्यक्ति के लिए प्राप्य क्या है? इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के साथ उसकी योग्यता और शिक्षा-दीक्षा के अनुसार ही व्यवहार होना चाहिए। व्यक्ति से क्या प्राप्त है इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की योग्यता के अनुसार उसे जो काम सौंपे जाएँ, उन्हें वे पूरी ईमानदारी के साथ करें।”¹⁰

प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ है कि मनुष्य अपने उन सब कर्तव्यों का पूरा पालन करें, जिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है। भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए किए गये संघर्ष का इतिहास डॉ. बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर के योगदानों का उल्लेख किए बिना तो पूरा ही नहीं हो सकता। अम्बेडकर एक संघर्षशील व्यक्तित्व के व्यक्ति थे, जिन्होंने सबको राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय दिलाने हेतु कड़ा संघर्ष किया। आधुनिक युग में न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए देश में जिन सुधारकों ने कार्य किया, उनमें से अधिकांश को इस कार्य हेतु प्रेरणा परानुभूतिवश ही मिली। सिर्फ बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर ही अकेले एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें यह स्वानुभूतिवश प्राप्त हुई। डॉ. अम्बेडकर यह मानते थे कि “समानता और सामाजिक न्याय की स्थापना का काम संतों के वश का नहीं है। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि संतों ने कभी जाति प्रथा या अस्पृश्यता के खिलाफ अभियान नहीं छेड़ा।”¹¹

सामाजिक न्याय की स्थापना में डॉ. अम्बेडकर के अवदान की चर्चा करते समय उनके तत्संबंधी वैधानिक एवं संवैधानिक योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। सामाजिक न्याय को प्राप्त करने में मौलिक अधिकारों का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी भी राज्य के संविधान में इन्हें सम्मिलित कर दिए जाने से ये अधिकार बहुत हद तक अनुलंघनीय हो जाते हैं। मौलिक अधिकार के रूप में जो अधिकार प्राप्त किए गए थे, वे हैं कानून के समक्ष समानता, अवसर की समानता, अस्पृश्यता उन्मूलन स्वतन्त्रता का अधिकार, वाक् स्वतन्त्रता, सम्मलेन करने की स्वतन्त्रता, पेशा या वृत्ति करने की स्वतंत्रता, जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा, शोषण से सुरक्षा, किसी भी धर्म को मानने उसका अनुसरण करने तथा उसका प्रसार करने की स्वतन्त्रता, साँस्कृतिक तथा शिक्षा संबंधी अधिकार जिसके तहत अल्पसंख्यकों को अपने धर्मानुकूल आचरण करने अपनी संस्कृति तथा लिपि सुरक्षित रखने का अधिकार है। जीवित रहने हेतु जो बुनियादी आवश्यकताएं हैं, जब तक उनकी पूर्ति नहीं होती तब तक व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता और समानता संबंधी वैधानिक अधिकारों का कोई अर्थ नहीं निकल सकता। एक व्यक्ति जो खाने तक के लिए मोहताज है, जिसके पास रहने के लिए झोपड़ी तक नहीं है, तथा पहनने के लिए कपड़े नहीं हैं, वह अपने नियोक्ता मालिक से न्यूनतम मजदूरी की माँग भला कैसे कर सकता है? अतः सामाजिक न्याय और मौलिक अधिकारों के बीच सार्थक तादात्म्य तब तक स्थापित नहीं हो सकता, जब तक कि अस्तित्व की रक्षा संबंधी न्यूनतम भरण-पोषण का अधिकार, अथवा कार्य का अधिकार एवं विकास के अवसर अथवा न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी संबंधी अधिकार व्यक्ति के मौलिक अधिकारों में सम्मिलित



नहीं होते। स्वतन्त्रता और समानता सामाजिक न्याय के दो मूल आधार हैं। दोनों में से किसी एक का अभाव सामाजिक न्याय का अभाव ही है।

यह स्थापित हो जाने पर कि स्वतन्त्रता और समानता दोनों ही सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक है, एक कठनाई इस बात को लेकर आती है कि इन दोनों में किस अनुपात में संबंध हों? इस मुद्दे का हल ढूँढने के लिए हमें जीवन के दो स्तरों में स्पष्ट भेद करना होगा। जहाँ तक जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति व विकास के लिए शिक्षा स्वास्थ्य एवं रोजगार संबंधी न्यूनतम अर्हताओं की पूर्ति का प्रश्न है, तो उसे समानता के निर्धारक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके पश्चात् सामाजिक लाभ का पुरस्कार का विभाजन और वितरण सामाजिक हित में व्यक्ति विशेष के योगदान को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

आदिवासी साहित्य पर बात करने से पहले आदिवासी संकल्पना को समझना भी अत्यावश्यक हो जाता है। आदिवासी शब्द से स्पष्ट बोध होता है कि जो पहले से यहाँ हो रहा हो, या जो आदिवासी रहे हों। इन्हें संविधान की पांचवी अनुसूची में 'जनजातियाँ' शब्द से परिभाषित किया है। साथ ही इन्हें वनवासी, आत्विका, गिरिजन, वन्यजाति, या आदिम जाति भी कहा जाता है। इस संकल्पना पर प्रकाश डालने वाले जेकब्स तथा स्टर्न की परिभाषा याद आती है। वे कहते हैं कि "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का ऐसा समूह जिसकी समान भूमि हो, समान भाषा हो, समान साँस्कृतिक विरासत हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो, जनजाति कहलाता है।"¹²

आदिवासी साहित्य उन वनों, जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह एक ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है जिनके आक्रोश की ओर यहाँ की समाज व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं दिए। उनकी समस्याओं की उपेक्षा और उन्हें सभी समाज से अलग समझे जाने के कारण आज उनका अस्तित्व खतरे में नजर आ रहा है। पानी के बगैर मछली का कोई अस्तित्व नहीं उसी प्रकार जंगल के बगैर आदिम मानव का अस्तित्व भी न के बराबर है। हिन्दी में आदिवासियों पर अनेक विधाओं में साहित्य सृजन का आरंभ हुआ है, भले ही वह अभी सशक्त न हो। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में कथा साहित्य में लेखन का औसत कुछ ज्यादा है, और उसमें भी उपन्यास विधा सशक्त दिखाई देती है। हिन्दी के आदिवासी उपन्यासों का जब अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि उपन्यासकारों ने उन पहलुओं को उजागर किया है, जिन पर अब तक किसी ने प्रकाश नहीं डाला था। हिन्दी उपन्यासकार कहते हैं कि आदिवासी यहाँ के मूल निवासी होकर भी उन्हें उपेक्षित का जीवन जीना पड़ रहा है। उन्हें यहाँ की समाज व्यवस्था ने हाशिए पर रखकर आज भी आदिम रूप में जंगलों में रहने के लिए बाध्य किया है। उन तक मूलभूत सुविधाओं को भी पहुँचने नहीं दिया। यह जनजातियाँ आज भी वरुण, सिंगबोंगा जैसे देवताओं के चक्रव्यूह में फँसी गिरि-कंदराओं में पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन जी रही हैं। उन्हें औद्योगीकरण के नाम पर जल, जमीन, जंगलों से निर्वासित किया जा रहा है।

उपन्यासकार केवल आदिवासियों की जीवन समस्याओं, शोषण को ही नहीं उनके सामाजिक-साँस्कृतिक जीवन को, उत्सव, पर्व-त्यौहार, अन्धविश्वास, आवास-निवास, रूढ़ि,



परंपरा, आचार-विचार, संस्थान आदि को भी हमारे सामने रखते हैं। बीसवीं सदी के उपन्यासों की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले और आदिवासी शोषण के विरुद्ध आवाज बुलंद करने वाले उपन्यास इक्कीसवीं सदी में लिखे जा रहे हैं। 21वीं सदी के ये उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवताओं, दीकू और कज्जाओं, के शोषण को बड़ी संवेदनशीलता के साथ उजागर करते हैं। जो क्रमशः इस प्रकार हैं- आदिभूमि-प्रतिभा राय-2002, काला पादरी-तेजिंदर-2002, पठार पर कोहरा-राकेश कुमार सिंह-2003, धूणी तपे तीर-हरिराम मीणा-2008, ग्लोबल गाँव के देवता-रणेंद्र-2009, पिछले पन्ने की औरत-शरद सिंह-2005, मरंग गोडा नीलकंठ हुआ-महुआ माजी-2012, गायब होता देश-रणेंद्र-2014, तथा महाअरण्य में गिद्ध-राकेश कुमार सिंह-2015 आदि।

प्रतिभा राय का उपन्यास आदिभूमि उड़ीसा के आदिवासी 'बोंडा' पर लिखा गया है। यह उपन्यास बोंडा जनजाति के जीवन-व्यवहार, हिंसा, प्रतिहिंसा, प्रतिरोध, सरलता, लोकरूढ़ि, लोकविश्वास, स्त्री-पुरुष संबंध, स्त्री शोषण आदि को सशक्त रूप में उजागर करता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी इनके शोषण का सिलसिला जारी होने के सत्य को प्रतिभा राय जी उजागर करती हैं। उनके इस उपन्यास में सरकारी योजनाओं जैसे इंदिरा आवास योजना, साक्षरता, आदि की धोखाधड़ी झूठ-फरेब, भ्रष्टाचार, स्त्रियों का यौन शोषण आदि को अभिव्यक्त किया है। उपन्यास में शिक्षा के प्रति आदिवासियों की रुचि बढ़े इसलिए मास्टर सीतानाथ के माध्यम से प्रतिभा राय अपनी बात रखती हैं। आदिवासी इलाके में समाज सुधार करना आसान नहीं है, क्योंकि कई लोगों के स्वार्थ वहाँ पर अटके हुए होते हैं। उनमें प्रशासक, बी.डी.ओ, पुलिस,

राजनेता, एम.एल.ए जैसे लोगों का समावेश होने की बात भी लेखिका ने की है। उपन्यास का प्रमुख चरित्र सीतानाथ कहता है कि “अपनी निष्ठा के बल पर इस जंगली झुण्ड को आदमी बनाने पर तुला हुआ है।”¹³

किन्तु अवसरवादी उसका तबादला दूसरी जगह कर देते हैं, इस प्रकार आदिवासी जीवन समस्याओं के साथ-साथ प्रकृति की संपन्नता को भी प्रतिभा राय उजागर करती हुई दिखाई देती हैं। कथाकार तेजिंदर का चर्चित उपन्यास 'काला पादरी' मध्य प्रदेश की 'उराँव' जनजाति की समस्याओं को व्यक्त करने वाला उपन्यास है। इसमें लेखक आदिवासियों का उपनिवेशिक व्यवस्था में फँसे होने की वास्तविकता को सामने रखता है। साथ ही आदिवासी भूख, अभाव, दारिद्र्य, शोषण आदि से परेशान होकर ईसाई, बौद्ध, हिन्दू धर्म में दीक्षित होने के ऐतिहासिक वास्तविकता की ओर भी इशारा करता है। आदिवासियों के भूख, अभाव और दारिद्र्य को व्यक्त करता हुआ वह लिखता है “साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गई। उसने भी कई दिनों से कुछ नहीं खाया था।”¹⁴

इस उपन्यास में भूख को मिटाने के लिए जहरीली वनस्पतियाँ, बूटियाँ और बिल्लियों का मांस खाने का सच भी सामने आया है। “वास्तव में 'काला पादरी' उपन्यास में भारत के सर्वाधिक उत्पीड़ित व उपेक्षित आदिवासियों की जीवन स्थितियों के अनेक पहलुओं को लेखक ने समाजशास्त्रीय दृष्टि किन्तु साथ-साथ ही लेखकीय संवेदना से इस ढंग से चित्रित किया है कि भारतीय समाज की जटिलता भी उभरकर सामने आती है और साथ ही आदिवासियों के जीवन की पीड़ा का मार्मिक अंकन भी लेखक की कलम से होता चलता है।”¹⁵



इसी क्रम में चर्चित कथाकार राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'पठार पर कोहरा' झारखंड के 'मुंडा' आदिवासियों की करूण कथा है। उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह ने आजादी के बाद भी आदिवासियों के जीवन से जुड़ी समस्याओं का कोहरा न छँटने की बात उपन्यास में की है। उपन्यास में साहू बाबू और बंदूकधारी संस्कृति की पोल खोल दी है, जो अंग्रेजों के झारखंड छोड़ने पर शोषण का काम कर रहे हैं। इस उपन्यास में सरकारी योजनाओं के भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ भी किया गया है। राजीव गाँधी की सरकारी योजनाओं के बारे में दस प्रतिशत वाली बात को उपन्यासकार आदिवासियों की योजनाओं में हो रहे भ्रष्टाचार के रूप में कुछ इस तरह से व्यक्त किया है- "आजादी के बाद आदिवासियों के कल्याण की सैकड़ों योजनाएँ बनी हैं, पर उनके क्रियान्वयन का क्या हुआ? आबंटित राशि का दस प्रतिशत भी देश के आदिवासियों तक नहीं पहुँच रहा है। कई योजनाएँ कागज पर चलती रहती हैं। कई योजनाएँ तो फाईलों की कब्र में ही दफन हो गईं..यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अपढ़, असंस्कृत, भूखा, नंगा, शोषित, उपेक्षित और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा रहेगा।" 16

राकेश कुमार सिंह के इस उपन्यास में परेशानियों से घिरी एक लड़की की जद्दोजहद भी है, नारी मुक्ति की आकांक्षा भी है और मुंडा जनजाति के शोषण, उत्पीड़न, अभाव, अन्याय-अत्याचार की वास्तविकताएँ भी हैं। यह उपन्यास सिर्फ शोषण की बात ही नहीं करता है बल्कि शोषण के विरोध में आवाज भी उठाता है। हरिराम मीणा का चर्चित उपन्यास 'घूणी तपे तीर' 17 नवम्बर 1913 के दिन घटित मानगढ़ राजस्थान की

घटना पर आधारित उपन्यास है। इस घटना की ओर इतिहासकारों ने बिल्कुल अनदेखा कर दिया था। अपने इस उपन्यास के माध्यम से हरिराम मीणा ने 'भीलों-मीणों' के ऐतिहासिक योगदानों को उजागर करने की कोशिश की है। उपन्यास के केंद्र में गोविन्द गुरू का ऐतिहासिक योगदान है। उपन्यास में हरिराम मीणा ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि कैसे गोविन्द गुरू ने मीणों को संगठित किया, उनमें कैसी जागृति भर दी, उन्हें बलिदान के लिए कैसे तैयार किया, यही इस उपन्यास की कथावस्तु भी है।

उपन्यास पर प्रकाश डालते हुए खुद हरिराम मीणा लिखते हैं कि "देश का पहला जलियाँवाला काण्ड अमृतसर 1919 से छः वर्ष पूर्व दक्षिणी राजस्थान के बाँसवाड़ा जिला के मानगढ़ पर्वत पर घटित हो चुका था जिसमें जलियाँवाला से चार गुणा शहादत हुई थी।" 17

इतिहास से उपेक्षित घटना को न्याय दिलाने की उपन्यासकार की कोशिश निश्चित रूप वन्दनीय है। चर्चित कथाकार रणेंद्र का चर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' झारखंड के 'असुर' जनजातियों के शोषण, विस्थापन को उजागर करता है। आज के इस वैश्वीकरण के युग में एक ओर हम विकास कर रहे हैं तो दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों का अमर्यादित उपयोग करके प्रकृति को दूषित कर रहे हैं। वहाँ के आदिवासियों, वनवासियों को उनके जंगलों से ही खदेड़ दे रहे हैं। इसी अमानवीय बातों को रणेंद्र ने इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया है। उपन्यास में असुर अर्थात् राक्षस, बड़े-बड़े दांतों-सींगों वाले किसी जीव ने इस संकल्पना को भी तोड़ा है। उपन्यास में वैश्वीकरण, औद्योगीकरण के कारण आदिवासियों पर हो रहे अन्याय-अत्याचार को भी व्यक्त किया गया है। रणेंद्र स्वयं लिखते हैं कि



“आकाशचारी देवताओं को जब अपने आकाशमार्ग से या सैटेलाइट की आँखों से छतीसगढ़, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, झारखण्ड आदि राज्यों की खनिज संपदा, जंगल और अन्य संसाधन दिखते हैं तो उन्हें लगता है कि राष्ट्र-राज्य तो वे ही हैं, तो हक तो उनका ही हुआ। सो इन खनिजों पर, जंगलों में, घूमते हुए लँगोट पहने असुर बिरजिया, उराँव-मुण्डा आदिवासी दलित सदान दिखते हैं तो उन्हें बहुत कोफ्त होती है। वे इन कीड़ों-मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं।”¹⁸

इस उपन्यास में ग्लोबल गाँव के देवताओं में उद्योगपति, पूंजीपति, पुलिस, व्यावसायिक, राजनेता, ठेकेदार, आदि आकाशचारियों का समावेश है।

‘पिछले पन्ने की औरत’ शरद सिंह का शोधपरक उपन्यास है, इस उपन्यास का प्रकाशन सन 2009 ई. में हुआ था। यह उपन्यास मध्यप्रदेश के बुन्देलखण्ड इलाके के बेड़िया समुदाय की स्त्रियों के जीवन पर आधारित है। लेखिका ने बेड़िया समुदाय के ‘इतिहास, संस्मरणों, लोक कथाओं एवं किंवदंतियों’ के माध्यम से बेड़िया स्त्री के जीवन के नंगे यथार्थ को उपन्यास में चित्रित किया है। लोक प्रचलित किस्सों एवं स्वयं के अनुभव के वर्णन के साथ-साथ अध्ययनपरक तथ्यों के विश्लेषण ने इस उपन्यास को एक समस्या केन्द्रित उपन्यास बना दिया है, जिसकी प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता। बेड़िया समुदाय की उत्पत्ति, विकास, उसका राजनैतिक संबंध, वर्तमान स्वरूप एवं भारतीय संविधान में उसकी स्थिति इन सभी पहलुओं पर इस उपन्यास में विस्तार से प्रकाश डालने की कोशिश की गई है। भारत की अन्य खानाबदोश जनजातियों की तरह बेड़िया जनजाति भी घुमंतू जाति है। “अंग्रेज अधिकारी आर.बी. रसेल ने बेड़ियों के बारे

में सन 1916 ई. में टिप्पणी करते हुए लिखा था कि जिप्सियों की भांति पीढ़ी-दर-पीढ़ी खानाबदोश एवं जन्मजात घुमक्कड़ समूहों को बेड़िया कहा जाता है।”¹⁹

वर्तमान समय में बेड़िया समुदाय मध्यप्रदेश के सागर जिले और उसके आस-पास और विशेषतः ‘पथरिया बेड़िनी’ नामक गाँव में बसा हुआ है जिसका नाम इसके समुदाय के नाम पर पड़ा है। रसूबाई नाम की एक बेड़िनी पर दिल आ जाने के कारण सागर जिले के एक बड़ी जमींदार ने उन्हें अपनी जमीन पर बसाया और उन्हें संरक्षण प्रदान किया। इस समाज की स्त्रियाँ ‘राई’ नृत्य नाचती हैं, और इसी नृत्य के लिए वह लोक प्रसिद्ध भी हैं। बुन्देलखण्ड के इलाके में सामाजिक-पारिवारिक उत्सवों में राई का नाच प्रसिद्ध और इसके लिए बेड़िनियों को विशेष रूप से बुलाया जाता है। द्वार पर बेड़िनी का नाच यहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता है। बेड़िया समाज में स्त्री की हैसियत पुरुष की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है क्योंकि समाज की मुख्य आर्थिक स्रोत यहाँ की बेड़िनी स्त्रियाँ ही हैं। बेड़िनी स्त्रियाँ टोली बनाकर राई नाचने जाती हैं जिसमें मुख्य भूमिका नर्तकी की होती है। वह अपने नृत्य कौशल के बल पर दर्शकों से ज्यादा पैसे निकलवा लेती हैं। उनके माध्यम से ही उनके टोली के गाने-बजाने वाले पुरुषों को भी रोजगार मिल जाता है। अतः बेड़िनियों का महत्त्व इस समाज में अधिक है।

बेड़िया समाज में कोई भी स्त्री जानबूझकर शरीर विक्रय नहीं करती, न ही रखैल बनना चाहती है और न ही नृत्य करना चाहती है। इनकी पिछड़ी स्थिति, अशिक्षा, आर्थिक विपन्नता एवं परंपराएँ इन्हें इस ओर ले जाने हेतु विवश करती हैं। परंपरा से ही ऐसा हो रहा है, इसीलिए इसमें उन्हें कुछ गलत नहीं



लगता है। देश की आज़ादी को सालों गुजर चुके परन्तु बेड़िनियों की स्थितियों में कोई अंतर नहीं आया, उनका नृत्य और रखैल बनाया जाना धनिकों के लिए गौरव की बात होती है। तीन भागों और कुल सत्ताईस उपभागों में लिखे गये इस उपन्यास में कोई नायिका नहीं है, उपन्यास के हर हिस्से में स्त्री पात्र बदलती रही है। किसी स्त्री की वेदना एवं पीड़ा को रिपोर्ताज शैली में लेखन करना लेखिका शरद सिंह की कुशल लेखन कला का द्योतक है। विभिन्न औरतों से होकर समग्र भारतीय औरतों के अस्तित्व तथा अधिकार पर लेखिका ने प्रकाश डाला है। औरतों को अपने अस्तित्व की तलाश करनी ही होगी। पुरुष उसे तलाशने में मदद करने का नाटक कर उसे भटका सकता है। अतः उसके मदद के बिना आधी दुनिया होने के कारण वे आधी दुनिया की ही हकदार हैं। 'पिछले पन्ने की औरत' उपन्यास में चित्रित संपूर्ण औरतों के मन में सादगी भरा जीवन जीने की मंशा है। उन्हें भी लगता है कि उनका भी एक पति और घर हो, उनके बच्चों को उनके पिता का नाम मिले, वे पढ़ें-लिखें।

परन्तु इस उपन्यास में यह तथ्य भी सामने आता है कि सारे प्रयासों के बावजूद उन बेड़िनियों के बच्चे उसी दलदल में दुबारा फँस जाते हैं। इतिहास और परंपरा कभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ती। शरद सिंह ने पात्रों को दुबारा दलदल में फँसने का यथार्थपरक वर्णन किया है, किन्तु कुछ पात्र सलामती से दबाओं और परंपराओं को तोड़कर आत्मविश्वास से उड़ान भरने में सफलता हासिल करने का चित्रांकन भी किया है। अपने जीवन में पिछले पन्नों से मुख्य पृष्ठों में जगह हासिल करनी है तो जीवट, धैर्य, आत्मविश्वास, ईमानदारी और ज्ञान

की आवश्यकता है, अगर बेड़िनियाँ यह सबकुछ आसानी से पा जाएँ तो वे 'पिछले पन्ने की औरतें' कभी नहीं कही जाएँगी। आदिवासी जीवन का संबंध प्रकृति से रहा है और प्रकृति ही उनकी निजी पहचान भी है, परन्तु आज उनका अस्तित्व खतरे में नजर आ रहा है। 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' उपन्यास के माध्यम से हम यहाँ उनके जीवन में आने वाले संकटों का चित्रण देख सकते हैं। आधुनिकता की दौड़ में विचार और शैलियाँ जीवन को जो अर्थ देने लगी हैं, आदिवासी उनमें ठगे से जा रहे हैं और अपनी ही जमीन से काट दिए जा रहे हैं। विकास की रफ्तार ज़रूरी है पर सवाल यह है कि यह विकास किसके लिए और किसकी कीमत पर। इस उपन्यास का मूल विचारणीय सवाल यही है। महुआ माजी का 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' झारखंड के 'हो' आदिवासी जनजाति को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में मुख्यतः अणु-परमाणु, नाभिकीय ऊर्जा के आदिवासी जीवन पर हो रहे दुष्परिणामों की ओर ध्यान खींचा है। कथाकार रणेंद्र ने इस कृति को वैज्ञानिक संस्थानों के गहन झूठ के खिलाफ हिंदी में लिखी पहली कृति माना है। "जादूगोड़ा इस उपन्यास में (मरंगगोड़ा) हाबड़ा मुंबई रेल लाइन पर टाटा नगर जमशेदपुर रेलवे स्टेशन से 24 किलोमीटर की दूरी पर है। 1967 ई. से युरेनियम कारपोरेशन ऑफ़ इण्डिया लिमिटेड यहाँ की खदानों से युरेनियम का खनन करवा रहा है जिसका शोधन भी जादूगोड़ा में ही होता है। प्रतिवर्ष तीन लाख टन रेडियोधर्मी कचरे की डंपिंग भी इसी इलाके में होती है। खदान से निकलने वाला कचरा इसमें दस गुणा ज्यादा यानी तीस लाख टन प्रतिवर्ष होता है।"20



आज विकास की अंधी दौड़ में हम प्राकृतिक प्रदूषण तो कर ही रहे हैं साथ ही आदिवासियों के जीवन पर विचार न करते हुए अणु-परमाणु और विकिरण युक्त कचरे को आदिवासी इलाके में ले जाकर डंपिंग कर रहे हैं, जो आदिवासियों की पीढ़ियों को बर्बाद कर रहा है। महुआ माजी ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से इस समस्या के विरोध में आवाज उठाई है। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास के मूल में समस्या विकिरण, प्रदूषण और विस्थापन की है। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास दर्द का महाकाव्य है। उपन्यास में विकास के दर्द को बेहद नाजुक तरीके से अभिव्यक्त किया गया है। इसमें लेखिका एक्टिविस्ट बनकर यूरेनियम खदानों के आसपास जाती है और सारंडा के जंगल में विचरण करती है। इसी क्रम में कथाकार रणेंद्र द्वारा रचित एक अन्य उपन्यास का प्रकाशन 2014 में हुआ है। इस उपन्यास की पहचान आदिवासी उपन्यास के रूप में ही हुई है। वैसे तो रणेंद्र का पहला उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' भी आदिवासी जनजाति यानि की असुर जनजाति की समस्याओं का चित्रण करता है। 'गायब होता देश' आदिवासी समाज अर्थात झारखंड की मुंडा जनजाति को केंद्र में रखकर लिखा गया है। इस उपन्यास में किस तरह आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन पर जबर्दस्ती अधिकार किया जाता है, यह दर्शाया गया है। मूलतः यह उपन्यास डायरी शैली में लिखा गया है। वैसे यह उपन्यास विकास विरोधी हलचलों को भी दिखाने का प्रयत्न करता है, साथ ही किस तरीके से विकास हो रहा है और विकास की आड़ में आदिवासियों को बहलाया जाता है, उसी का चित्रण इसमें किया गया है।

'गायब होता देश' में पत्रकारिता के बदलते रवैये या यों कहें पूँजीवादी सभ्यता के आगे लाचार और बेबस पत्रकारिता का भ्रष्ट चेहरा भी देखने को मिलता है, उसके ऊपर भी सवाल उठाया गया है। "जिस व्यक्ति ने अपनी उम्र के बेशकीमती बीस साल पत्रकारिता में गुजारे, उनके प्रति अपनी पत्रकार बिरादरी का ही रुख कुछ अजीब सा था। अखबारों के स्थानीय संस्करणों और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लोकल चैनल्स उनके प्रति यहाँ तक की उनकी मृत्यु के प्रति भी कतई उदार नहीं दिख रहे थे। दिवंगत किसान विद्रोही के ज्ञात-अज्ञात महिला मित्रों की खोज की जा रही थी। उसकी छवि एक ब्लैकमेलर कामलोलुप और ड्रग सप्लायर की बनाई जा रही थी।"21 इसी प्रकार 'महाअरण्य में गिद्ध' एक ऑनलाइन उपन्यास है, जिसमें स्वयं झारखंड के धरती पुत्र राकेश कुमार सिंह ने कतिपय तथ्यों के आधार पर सधारणीकृत करते हुए आदिवासियों के दुखते फफोलों को उघाडा है। भारत सरकार की एक दर्दीली नस नक्सलवाद है। तथाकथित विकास के झूठे सच ने हर वास्तविक सच को नजरअंदाज करके अधिकतम आबादी को हाशिए पर धकेल दिया है, जहाँ लोग जीने मात्र के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यह हाशिया लगातार बढ़ रहा है। यों तो विकास परियोजनाओं का शिकार हर कमजोर आदमी हो रहा है, पर इसका सर्वाधिक विध्वंसक असर आदिवासियों पर पड़ रहा है। विकास ही उनके लिए विनाश का पर्याय बन चुका है। राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'महाअरण्य में गिद्ध' आदिवासियों के बहुस्तरीय विनाश का बहुआयामी आख्यान भी है।

'महाअरण्य में गिद्ध' उपन्यास का भूगोल वर्तमान झारखंड के पलामू जिले का 'महुआटांड' प्रखंड है। इसका नायक बचानी



मुर्मू नामक आदिवासी है, जो घोर अत्याचारी स्थानीय जमींदार प्रभुदयाल शाहदेव का अतिविश्वस्त नौकर था। पूरे इलाके में जमींदार का ही आतंक था। इस उपन्यास में लेखक राकेश कुमार सिंह जी ने अद्भुत किस्सागोई का परिचय देते हुए अनेक घटनाओं और प्रकरणों को परस्पर गुंफित कर मुख्य कथा से जोड़ दिया है। उपन्यास समाज, राजनीति, और संस्कृति तीनों को एक साथ संबोधित करता है, किन्तु सबकुछ साहित्य के स्वधर्म की रक्षा करते हुए। उपन्यास के कथानक में कहीं कोई बिखराव नहीं है, दूसरे उपन्यासों की तुलना में यह इसलिए भी अलग है क्योंकि इसमें गैर आदिवासियों और आदिवासियों के संपर्क और संघर्ष के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिणामों का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन भी है। इस उपन्यास में आये पात्रों और घटनाओं के माध्यम से यह बार-बार रेखांकित किया गया है कि दीकू (गैर आदिवासी) अपने अंतिम निष्कर्षों में आखिरकार दीकू ही साबित होते हैं। आदिवासियों के लिए सहानुभूति और उनके कार्यों के पीछे की असली मंशा कुछ और ही होती है।

इस प्रकार हिन्दी आदिवासी साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तो हमें विशेष रूप से 21वीं सदी के आदिवासी उपन्यास अधिक आकर्षित करते हैं। इसकी खास वजह है कि ये उपन्यास केवल आदिवासियों के सांस्कृतिक, प्राकृतिक जीवन को व्यक्त नहीं करते तो वैश्वीकरण, बाजारीकरण के युग में आदिवासियों के सामने आ रही नवीन समस्याओं को सामने रखते हैं और उनसे कैसे निपटा जा सकता है इसका सुझाव भी देते हैं।

इतिहास भी कभी-कभी अपने समय और समाज के साथ न्याय नहीं कर पाता है और कुछ प्रश्नों को अँधेरे में रखकर हमें पुनः

अतीत में लौटने को मजबूर करता है। आदिवासी अस्मिता मूलक प्रश्न एक ऐसा ही प्रश्न है जो कई दशकों के बीत जाने के बावजूद अपने जीवन और मूल्यों को लेकर संघर्ष कर रहा है। अतः हम यह कह सकते हैं कि इक्कीसवीं सदी के आदिवासी हिन्दी उपन्यास 'हो' 'उराँव' 'मुंडा' 'असुर' 'भील' 'बेड़िया' 'बोंडा' कंजर आदि जनजातियों को केंद्र में रखकर लिखे गये हैं, जो राजस्थान, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखण्ड, हरियाणा आदि राज्यों में स्थित हैं। मुख्यतः यह उपन्यास एक ओर हमारी जगमगाती संपन्नता, औद्योगिक विकास, नागरीकरण, वैज्ञानिक सफलता आदि को व्यक्त करते हैं, तो दूसरी ओर आदिवासी जनजातियों की विपन्नता, विस्थापन, दारिद्र्य, शोषण बीमारियाँ, अन्याय-अत्याचार, विषमता, पराधीनता, अभाव, भूख, अमानवीय जीवन, धर्मांतरण, तथा प्राकृतिक हास को व्यक्त करते हैं। साथ ही इन समस्याओं से उबरकर निकलने के लिए संघर्ष करते आदिवासियों की जद्दोजहद को भी अभिव्यक्त करते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज की अस्मिता और उत्थान वर्तमान समय की सबसे बड़ी ज़रूरत है। आज़ादी के सात-आठ दशक बाद भी देश का आदिवासी समुदाय जिन मानसिकताओं एवं समस्याओं से जूझ रहा है, वह एक गहन चिंता का विषय है। किसी भी देश समाज में उभरने वाली लोकतांत्रिक राजनीति के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक वैचारिकी का निर्माण हो। जब हम दलितों से आदिवासियों के राजनीतिक नेतृत्व की तुलना करते हैं, तो स्पष्ट दिखाई देता है कि दलितों में मसीहा के रूप में बाबा साहेब अम्बेडकर मौजूद हैं, जो संपूर्ण राष्ट्र के दलित समाज के वैचारिक महानायक हैं, जिनसे दलित समाज निरंतर प्रेरणा



लेता रहता है। रामायण के दौर के वाल्मीकि ऋषि, निषादराज, सबरी आदिवासी चरित्र रहे हैं, झारखंडी आदिवासियों के भगवान बिरसा मुण्डा, महानायिका सिनगी दई, राबिनहुड के नाम से जाने जाने वाले टंटया भील, सिद्धू कान्हू, तिलक मांझी, शहीद गैदा सिंह जैसे अनेकों मसीहा हैं।

आदिवासी अस्मिता, स्वायत्तता, आत्मसम्मान, संस्कृति और विकास ये ऐसे मुद्दे हैं, जिन पर अराजनीतिक चिन्तन अपेक्षित है। इस परिप्रेक्ष्य में जब स्वायत्तता की बात की जाती है तो यह राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति सभी स्तरों पर प्रासंगिक दिखाई देती है। आदिवासी समाज बहुत लंबे समय तक अपनी ही दुनिया में स्वायत्त और स्वावलंबी जीवन जीता रहा है, उसके पीछे अस्मिता और आत्मसम्मान की समृद्ध परंपरा रही है। इस स्वायत्तता के साथ आदिवासी बड़ी मुश्किल से समझौता कर रहे हैं, चाहे वह उनके लिए लाभकारी ही क्यों न हो? इसका कारण दीर्घकालीन मानसिकता होती है, जिसमें परिवर्तन बाहर से संभव नहीं होगा, इसलिए सकारात्मक परिवर्तन के लिए उनकी सहमति लेनी होगी। इस सहमति के बगैर परिवर्तन मानसिक तनाव को जन्म देगा, जो उस समाज के लिए सदा पीड़ा का कारण बना रहेगा और उसका विकास, अस्मिता एवं मौलिक मानवाधिकारों के संरक्षण में बाधा उत्पन्न करेगा।

जंगलों पर आधारित आर्थिक जीवन को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन ने बुरी तरह प्रभावित किया है। नतीजतन आदिवासी जीवन से प्रभावित हुआ, और पारिस्थितिकी संतुलन बुरी तरह बिगड़ा। भारत की वन नीति और संवैधानिक प्रावधान इसकी छूट नहीं देते, लेकिन चीजों को तोड़-मरोड़ कर सब कुछ किया जाना संभव हो जाता है। सामाजिक और साँस्कृतिक स्वायत्तता

सबसे महत्वपूर्ण पहलू है जो आदिवासी अस्मिता से सीधे-सीधे संबंध रखते हैं। आदिवासी समुदाय का एक बड़ा संकट यह भी है कि जंगल के इलाकों में रहने के कारण आमतौर पर सरकार संचालित योजनाएँ इन आदिवासियों तक पहुँच ही नहीं पाती है। केंद्र और राज्य सरकार की रोजगार गारंटी योजना सहित दूसरी अन्य योजनाओं से ये आदिवासी पूरी तरह से दूर हैं। जंगलों में भोजन की अनुपलब्धता के कारण कुपोषण और बीमारी इनके लिए जानलेवा साबित हो रही है। ऊपर से उनके इलाकों में होने वाले औद्योगीकरण की मार भी इन पर पड़ रही है, और इन्हें अपनी जमीन और परंपरागत व्यवसाय से विस्थापित होना पड़ रहा है।

आदिवासियों को विशेष शैक्षणिक, साँस्कृतिक और आर्थिक अवसरों में प्राथमिकता मिलनी चाहिए जिससे आदिवासियों द्वारा सहे गये पहले के अन्याय और उपनिवेश के प्रभावों का प्रतिकार किया जा सके। आदिवासी सामुदायिक व्यवहारों की सुन्दरता, उनकी मिल-बाँट एवं सबके लिए आदर की संस्कृति, गूढ़ विनम्रता, प्रकृति प्रेम और सबसे ऊपर उनकी समानता तथा नागरिक समन्वय की गहन अनुरक्ति से भी देश और इस समाज के लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं।

समग्र रूप में यह कहा जा सकता है कि हमारा संविधान सामाजिक न्याय के क्रियान्वयन हेतु एक विस्तृत व प्रभावी ढाँचा उपलब्ध कराता है। सामाजिक न्याय मुख्यतः समाज के वंचित एवं कमजोर वर्गों की दशा सुधारने की माँग करता है ताकि उन्हें सम्मानपूर्ण जीवनयापन का अवसर मिल सके। अतः यह संकल्पना समाज की मूल्यवान वस्तुओं की वितरण व्यवस्था पर पुनर्विचार की माँग करती है। सामाजिक न्याय, सामाजिक नीतियों या विवादों के समाधान से संबंधित वह



दृष्टिकोण है जिसमें विभिन्न पक्षों के परस्पर विरोधी दावों का दावा करते समय निर्बल और निर्धन पात्र को विशेष सहायता एवं संरक्षण प्रदान करने में तत्परता दिखाई जाती है। आर्थिक, सामाजिक असमानताओं को घटाने, जनसाधारण की गरीबी, बेरोजगारी एवं अल्परोजगार के उन्मूलन, मानव गरिमा की पुनर्स्थापना एवं सभी को न्याय दिलाने के संबंध में स्वतंत्र भारत के लोगों का एक स्पष्ट दृष्टिकोण था। इस प्रकार स्वतंत्र भारत के लोगों द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना की जानी चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक न्याय प्राप्त हो सके, शायद इसीलिए भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु अनेकों प्रावधान किए गये हैं।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में शिक्षा को मुक्तिदायिनी कहा गया है। 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् शिक्षा ही वह साधन है जो मनुष्य की अज्ञानता तथा सभी बन्धनों से मुक्त कराती है। शिक्षा के ही महत्त्व को देखते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है कि अज्ञानता ही सभी दुखों का कारण है। सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में समस्त व्यक्तियों की गरिमा स्वीकार की जाए। स्त्री-पुरुष, गोरे-काले, या जाति-धर्म व क्षेत्र इत्यादि के आधार पर किसी को बड़ा-छोटा या ऊँच-नीच न माना जाए। शिक्षा और उन्नति का अवसर सभी को समान रूप से प्राप्त हो, और सब लोग मनुष्य होने के कारण मिल-जुलकर साहित्य, कला, संस्कृति और तकनीकी साधनों का उपयोग और उपभोग कर सकें।

संदर्भ ग्रन्थ:

- 1- आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादक-डॉ.गंगासहाय मीणा, पृष्ठ संख्या-19
- 2- आदिवासी कौन? संपादक- रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या-86, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
- 3- राजस्थान के आदिवासी, डॉ. एस.के.सोनी, पृष्ठ संख्या-08, यूनिवर्सिटी ट्रेडर्स नई दिल्ली
- 4- वही, पृष्ठ संख्या-09
- 5- साक्षात्कार, रमणिका गुप्ता
- 6- आदिवासी कौन? संपादक रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या- 27 राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
- 7- दलित संघर्ष और सामाजिक न्याय, मल्लपुराण पृष्ठ संख्या-17, आविष्कार पब्लिशर्स-2022
- 8- सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, रामगोपाल सिंह, पृष्ठ संख्या-01, राजस्थान ग्रन्थ आकादमी जयपुर- 2006
- 9- Greek Political Theory, Barker, page-153
- 10- राजनीतिक दर्शन का इतिहास, अनुवाद-विश्वप्रकाश गुप्त, खंड-01, पृष्ठ संख्या-52, एस.चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली-1964
- 11- वही, पृष्ठ संख्या-53
- 12- डॉ.अम्बेडकर एक चिन्तन, मधुलिमये, पृष्ठ संख्या- 35, सरदार वल्लभभाई पटेल एजुकेशन सोसाइटी नई दिल्ली-1990
- 13- डॉ.अम्बेडकर: द रिलेन्तलेस क्रूसेडर योजना, सिंह एम.एम, पृष्ठ संख्या-10, अप्रैल-1991
- 14- काला पादरी, तेजिंदर, पृष्ठ संख्या-21
- 15- दलित साहित्य: एक मूल्यांकन, प्रोफेसर चमनलाल, पृष्ठ संख्या-166
- 16- पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृष्ठ संख्या-137



17-धूणी तपे तीर, हरिराम मीणा, भूमिका से उधृत

18-ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ संख्या-58

19-पिछले पन्ने की औरत, शरद सिंह, पृष्ठ संख्या-06,
सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली-2016

20- 'ईमा मुझे खेंचे है तो रोके है मुझे कुफ़्र', रणेंद्र, नया

ज्ञानोदय, जून-2012, पृष्ठ संख्या-101

21-गायब होता देश, रणेंद्र पृष्ठ संख्या-63

Cite This Article:

डॉ. पाण्डेय म. (2023). 21वीं सदी के आदिवासी हिन्दी उपन्यास और सामाजिक न्याय, *Electronic International Interdisciplinary Research Journal*, XII, Issues – III, May -June, 2023, 97-110.